

जैन तत्त्वमीमांसा की विकासयात्रा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

जैन धर्म मूलतः आचार प्रधान है, उसमें तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं का विकास भी आचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है। उसके तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं में मुख्यतः पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य, षट्जीवनिकाय और नव या सप्त तत्त्वों की अवधारणा प्रमुख है। परम्परा की दृष्टि से तो ये सभी अवधारणायें अपने पूर्ण रूप में सर्वज्ञ प्रणीत और सार्वकालिक हैं, किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों की दृष्टि से विद्वानों ने कालक्रम में इनका विकास माना है। प्रस्तुत आलेख में कालक्रम में निर्मित ग्रन्थों के आधार पर इनकी विकासयात्रा को चित्रित किया गया है।

अस्तिकाय की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटकों के रूप में पंचास्तिकायों की अवधारणा जैनदर्शन की अपनी मौलिक विचारणा है। पंचास्तिकायों का उल्लेख आचारांग में अनुपलब्ध है, किन्तु ऋषिभाषित (ई.पू. चतुर्थ शती) के पार्श्व अध्ययन में पार्श्व की मान्यताओं के रूप में पंचास्तिकाय का वर्णन है। इससे फलित होता है कि यह अवधारणा कम से कम पार्श्वकालीन (ई.पू. आठवीं शती) तो है ही। महावीर की परम्परा में भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम हमें इसका उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन में अस्तिकाय का तात्पर्य विस्तारयुक्त अस्तित्ववान् द्रव्य से है। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन पंचास्तिकायों में धर्म, अधर्म और आकाश को एक-एक द्रव्य और जीव तथा पुद्गल को अनेक द्रव्य माना गया है। ई. सन् की तीसरी शती से दसवीं शती के मध्य इस अवधारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता, मात्र षट्द्रव्यों की अवधारणा के विकास के साथ-साथ काल को अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ई. सन् की तीसरी-चौथी शती तक अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पूर्व यह विवाद प्रारम्भ हो गया था कि काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाय या नहीं। विशेषावश्यकभाष्य के काल तक अर्थात् ईसा की सातवीं शती तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करने के सम्बन्ध में मतभेद था। कुछ जैन दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते थे और कुछ उसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे, किन्तु बाद में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में

अस्तिकाय और द्रव्य की अवधारणाओं का समन्वय करते हुए काल को अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार कर लिया गया।

अस्तिकाय की अवधारणा जैनों की मौलिक अवधारणा है। किसी अन्य दर्शन में इसकी उपस्थिति के संकेत नहीं मिलते। मेरी दृष्टि में प्राचीन काल में अस्तिकाय का तात्पर्य मात्र अस्तित्व रखने वाली सत्ता था, किन्तु आगे चलकर जब अस्तिकाय और अनस्तिकाय ऐसे दो प्रकार के द्रव्य माने गये तो अस्तिकाय का तात्पर्य आकाश में विस्तार युक्त द्रव्य से माना गया। पारम्परिक भाषा में अस्तिकाय को बहु-प्रदेशी द्रव्य भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य यही है कि जो द्रव्य आकाश क्षेत्र में विस्तारित है, वही 'अस्तिकाय' है।

पंचास्तिकाय

जैन दर्शन में वर्तमान काल में जो षट्द्रव्य की अवधारणा है, उसका विकास इसी पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। पंचास्तिकायों में काल को जोड़कर लगभग प्रथम-द्वितीय शती में षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई है। जहाँ तक पंचास्तिकाय की अवधारणा का प्रश्न है वह निश्चित ही प्राचीन है, क्योंकि उसका प्राचीनतम उल्लेख हमें 'इसिभासियाई' के पार्श्व नामक अध्ययन में मिलता है। ऋषिभाषित की प्राचीनता निर्विवाद है। पं. दलसुखभाई का यह कथन कि "पंचास्तिकाय की अवधारणा परवर्ती काल में बनी है" - उतना ही सत्य है कि महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचनाकाल तक इस अवधारणा का उल्लेख नहीं है, क्योंकि मूल में यह अवधारणा पार्श्वपत्यों की थी। जब पार्श्व के अनुयायियों को महावीर के संघ में समाहित कर लिया गया, तो उसके साथ ही पार्श्व की अनेक मान्यताएँ भी महावीर की परम्परा में स्वीकृत की गयीं। इसी क्रम में यह अवधारणा महावीर की परम्परा में स्पष्ट रूप से मान्य हुई। भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम यह कहा गया कि लोक, धर्म, अधर्म, आकाश, अजीव और पुद्गल रूप हैं। ऋषिभाषित में तो मात्र पाँच अस्तिकाय हैं - इतना ही निर्देश है, उनके नामों का भी उल्लेख नहीं है। चाहे ऋषिभाषित के काल में पंचास्तिकायों के नाम निर्धारित हो भी चुके हों, किन्तु फिर भी उनके स्वरूप के विषय में वहाँ कोई भी सूचना नहीं मिलती। धर्म-अधर्म आदि पंच अस्तिकायों का जो अर्थ आज है, वह कालक्रम में विकसित हुआ है। भगवतीसूत्र में ही हमें ऐसे दो सन्दर्भ मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में धर्म अस्तिकाय और अधर्म अस्तिकाय का अर्थ गति और स्थिति में सहायक द्रव्य नहीं था। भगवतीसूत्र के ही बीसवें शतक में धर्मास्तिकाय के जो पर्यायवाची दिये गये हैं, उनमें अट्टारह पाप स्थानों से

विरति, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के पालन को ही धर्मास्तिकाय कहा गया है। इसी प्रकार प्राचीनकाल में अष्टारह पापस्थानों के सेवन तथा पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का परिपालन नहीं करने को ही अधर्मास्तिकाय कहा जाता था। इसी प्रकार भगवतीसूत्र के सोलहवें शतक में यह प्रश्न उठाया गया कि लोकान्त में खड़ा होकर कोई देव अलोक में अपना हाथ हिला सकता है या नहीं? इसका न केवल नकारात्मक उत्तर दिया गया अपितु यह भी कहा गया कि गति की सम्भावना जीव और पुद्गल में है और अलोक में जीव और पुद्गल का अभाव होने से ऐसा सम्भव नहीं है। यदि उस समय धर्मास्तिकाय को गति का माध्यम माना गया होता तो, पुद्गल का अभाव होने पर वह ऐसा नहीं कर सकता, इस प्रकार के उत्तर के स्थान पर ऐसा कहा जाता कि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण वह ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में मुक्त आत्मा का अलोक में गति न होने का कारण अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव ही बताया गया है। धर्मास्तिकाय गति में सहायक द्रव्य है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक द्रव्य है - यह अवधारणा एक परवर्ती घटना है, फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक अर्थात् तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध और चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध में यह अवधारणा अस्तित्व में आ गई थी। भगवती आदि में जो पूर्व संदर्भ निर्दिष्ट किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल अर्थात् ई.पू. तीसरी-चौथी शती तक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अर्थ धर्म और अधर्म की ही अवधारणाएँ थीं।

नवतत्त्व की अवधारणा

पंचास्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा के समान ही नवतत्त्वों की अवधारणा भी जैन परम्परा की अपनी मौलिक एवं प्राचीनतम अवधारणा है। इस अवधारणा के मूल बीज आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी मिलते हैं। उसमें सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि (मोक्ष), असिद्धि (बन्धन) आदि के अस्तित्व को मानने वाली ऐकान्तिक विचारधाराओं के उल्लेख हैं (१/८/१/२०००)। इस उल्लेख में आस्रव-संवर, पुण्य-पाप तथा बंधन-मुक्ति के निर्देश हैं, वैसे आचारांग सूत्र में जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष - ऐसे नवों तत्त्वों के उल्लेख प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं, किन्तु एक साथ ये नौ तत्त्व हैं - ऐसा उल्लेख नहीं है।

सूत्रकृतांग में अस्ति और नास्ति की कोटियों की चर्चा हुई है। उसमें जिन्हें अस्ति कहना चाहिए उनका निर्देश भी है। उसके अनुसार जिन तत्त्वों को अस्ति कहना चाहिए वे निम्न हैं- लोक, अलोक, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, बन्ध,

मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अक्रिया, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, चतुरंत संसार, देव, देवी, सिद्धि, असिद्धि, सिद्धनिजस्थान, साधु, असाधु, कल्याण और पाप।

इस विस्तृत सूची का निर्देश सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में हुआ है। जहाँ जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अधिकरण, बंध और मोक्ष का उल्लेख है। पं. दलसुखभाई मालवणिया का मानना है कि इसमें से वेदना, क्रिया और अधिकरण को निकालकर आगे नौ तत्त्वों की अवधारणा बनी होगी जिसका निर्देश हमें समवायांग (९) और उत्तराध्ययन (२८/१४) में मिलता है। उन्हीं नौ तत्त्वों में से आगे चलकर ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। इन सात अथवा नौ तत्त्वों की चर्चा हमें परवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों के ग्रन्थों में मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनों में सात तत्त्वों की अवधारणा भी पंच-अस्तिकाय की अवधारणा से ही एक कालक्रम में लगभग ईसा की तीसरी-चतुर्थ शती में अस्तित्व में आयी है। सातवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य जो मुख्य काम इन अवधारणाओं के सन्दर्भ में हुआ वह यह कि उन्हें सम्यक् प्रकार से व्याख्यायित किया गया और उनके भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा की गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में षट्द्रव्य सात या नौ तत्त्व और षट्जीव निकाय की अवधारणा का जो विकास हुआ है उसके मूल में पंचास्तिकाय की अवधारणा ही मूल है, क्योंकि नवतत्त्वों की अवधारणा के मूल में भी जीव और पुद्गल मुख्य हैं जो जीव के कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध को सूचित करते हैं। कर्म पुद्गलों का जीव की ओर आना आस्रव है, जो पुण्य या पाप रूप होता है। जीव के साथ कर्म पुद्गलों का संश्लिष्ट होना बन्ध है। कर्मपुद्गलों का आगमन रुकना संवर है और उनका आत्मा या जीव से अलग होना निर्जरा है। अन्त में कर्म पुद्गलों का आत्मा से पूर्णतः विलग होना मोक्ष है। जैन आचार्यों ने पंचास्तिकाय की अवधारणा का अन्य दर्शन परम्पराओं में विकसित द्रव्य की अवधारणा से समन्वय करके षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास किया। अग्रिम पंक्तियों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षट्द्रव्यों की अवधारणा का और विशेष रूप से द्रव्य की परिभाषा को लेकर जैन दर्शन में कैसे विकास हुआ है?

द्रव्य की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटक को ही सत् या द्रव्य कहा जाता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में जिसे सत् कहा जाता था वही आगे चलकर द्रव्य के रूप में माना गया।

जिन्होंने विश्व के मूल घटक को एक, अद्वय और अपरिवर्तनशील माना उन्होंने सत् शब्द का ही अधिक प्रयोग किया, परन्तु जिन्होंने उन्हें अनेक व परिवर्तनशील माना उन्होंने सत् के स्थान पर द्रव्य का प्रयोग किया। भारतीय चिन्तन वेदान्त में सत् शब्द का प्रयोग हुआ, जबकि उसकी स्वतन्त्र धाराओं यथा - न्याय, वैशेषिक आदि में द्रव्य और पदार्थ शब्द अधिक प्रचलन में रहा, क्योंकि द्रव्य शब्द ही परिवर्तनशीलता का सूचक है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है आचारांग में दवी (द्रव्य) शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध होता है किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में नहीं अपितु द्रवित के अर्थ में है। (जैनदर्शन का आदिकाल पृ. २१)

‘द्रव्य’ शब्द का प्रयोग प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययन में मिलता है। उत्तराध्ययन के वे अध्ययन जिनमें द्रव्य का विवेचन है, अपेक्षाकृत परवर्ती माने जाते हैं। वहाँ न केवल ‘द्रव्य’ शब्द का प्रयोग हुआ है अपितु द्रव्य, गुण और पर्याय के पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उसमें द्रव्य को गुणों का आश्रयस्थल माना गया है। मेरी दृष्टि में उत्तराध्ययन की द्रव्य की यह परिभाषा न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित लगती है। पूज्यपाद देवन्दी ने पाँचवी शताब्दी में अपनी तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में गुणों के समुदाय को ही द्रव्य कहा है। इसमें द्रव्य और गुण की अभिन्नता पर अधिक बल दिया गया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत यह चिन्तन बौद्धों के पंच स्कन्धवाद से प्रभावित है। यद्यपि यह अवधारणा पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में ही सर्वप्रथम मिलती है, किन्तु उन्होंने “गुणानां समूहो द्रव्यो” इस वाक्यांश को उद्धृत किया है। अतः यह अवधारणा पाँचवीं शती से पूर्व की है। द्रव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में ‘द्रव्य गुणों का आश्रयस्थान’ है और ‘द्रव्य गुणों का समूह है’ - ये दोनों ही अवधारणाएँ मेरी दृष्टि में तीसरी शती से पूर्व की हैं। इस सम्बन्ध में जैनों की अनैकान्तिक दृष्टि से की गयी सर्वप्रथम परिभाषा हमें ईसा की चतुर्थ शती के प्रारम्भ में तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है। जहाँ द्रव्य को गुण और पर्याययुक्त कहा गया है। इस प्रकार द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में अनैकान्तिक दृष्टि का प्रयोग सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है।

षट्द्रव्य

यह तो हम स्पष्ट कर चुके हैं कि षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। लगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी में ही पंचास्तिकायों के साथ काल को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानकर षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई। यद्यपि काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं? इस प्रश्न पर लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक यह विवाद चलता रहा है, जिसके

संकेत हमें तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मान्य पाठ से लेकर विशेषावश्यकभाष्य तक अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी के पश्चात् यह विवाद समाप्त हो गया और श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में षट्द्रव्यों की मान्यता पूर्णतः स्थिर हो गई, उसके पश्चात् उसमें कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये षट्द्रव्य निम्न हैं - धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल और काल। आगे चल कर इन षट्द्रव्यों का वर्गीकरण अस्तिकाय - अनस्तिकाय, चेतन-अचेतन अथवा मूर्त-अमूर्त के रूप में किया जाने लगा। अस्तिकाय और अनस्तिकाय द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म-अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल इन पाँच को अस्तिकाय और काल को अनस्तिकाय द्रव्य माना गया। चेतन-अचेतन द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल को अचेतन द्रव्य और जीव को चेतन द्रव्य माना गया है। मूर्त और अमूर्त द्रव्यों की अपेक्षा से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अमूर्त द्रव्य और पुद्गल को मूर्त द्रव्य माना गया है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि विद्वानों ने यह माना है कि जैन दर्शन में द्रव्य की अवधारणा का विकास न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित है। जैनाचार्यों ने वैशेषिक दर्शन की द्रव्य की अवधारणा को अपनी पंचास्तिकाय की अवधारणा से समन्वित किया है। अतः जहाँ वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य माने गए थे वहाँ जैनों ने पंचास्तिकाय के साथ काल को जोड़कर मात्र छः द्रव्य ही स्वीकार किए। इनमें भी जीव (आत्मा) आकाश और काल - ये तीन द्रव्य दोनों ही परम्पराओं में स्वीकृत रहे। पंचमहाभूतों, जिन्हें वैशेषिक दर्शन में द्रव्य माना गया है, में आकाश को छोड़कर शेष पृथ्वी, अप (जल), तेज (अग्नि) और मरुत् (वायु) इन चार द्रव्यों को जैनों ने स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर जीव द्रव्य के ही भेद माना है। दिक् और मन - इन दो द्रव्यों को जैनों ने स्वीकार नहीं किया, इनके स्थान पर उन्होंने पाँच अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और पुद्गल ऐसे अन्य तीन द्रव्य निश्चित किए। ज्ञातव्य है कि जहाँ अन्य परम्पराओं में पृथ्वी, अप, वायु और अग्नि इन चारों को जड़ माना गया वहाँ जैनों ने इन्हें चेतन माना। इस प्रकार जैन दर्शन की षट्द्रव्य की अवधारणा अपने आप में मौलिक है। अन्य दर्शन परम्परा से उसका आंशिक साम्य ही देखा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि उन्होंने इस अवधारणा का विकास अपनी मौलिक पंचास्तिकाय की अवधारणा से किया है।

षट्जीवनिकाय की अवधारणा

पंचास्तिकाय के साथ-साथ षट्जीवनिकाय की चर्चा भी जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय के विभाग के रूप में

षट्जीवनिकाय की यह अवधारणा विकसित हुई है। षट्जीवनिकाय निम्न है- पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथ्वी आदि के लिए 'काय' शब्द का प्रयोग प्राचीन है। दीघनिकाय में अजितकेशकम्बलिन के मत को प्रस्तुत करते हुए - पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय और वायुकाय का उल्लेख हुआ है। उसी ग्रन्थ में पकुधकच्चायन के मत के सन्दर्भ में पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, सुख, दुःख और जीव - इन सात कार्यों की चर्चा है। इससे यह फलित होता है कि पृथ्वी, अप आदि के लिये काय संज्ञा अन्य श्रमण परम्पराओं में प्रचलित थी। यद्यपि काय कौन-कौन से और कितने हैं इस प्रश्न को लेकर उनसे परस्पर मतभेद थे। अजितकेशकम्बलिन् पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु इन चार महाभूतों को काय कहता था तो पकुधकच्चायन इन चार के साथ सुख, दुःख और जीव इन तीन को सम्मिलित कर सात काय मानते थे। जैनों की स्थिति इनसे भिन्न थी - वे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन पाँच को काय मानते थे, किन्तु इतना निश्चित है कि उनमें पंच अस्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा लगभग ई.पू. छठी-पाँचवीं शती में अस्तित्व में थी। क्योंकि आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इन षट्जीवनिकायों का और ऋषिभाषित के पार्श्व अध्ययन में पंच अस्तिकायों का स्पष्ट उल्लेख है। इन सभी ग्रन्थों को सभी विद्वानों ने ई.पू. पाँचवीं-चौथी शती का और पालित्रिपिटक के प्राचीन अंशों का समकालिक माना है। हो सकता है कि ये अवधारणायें क्रमशः पार्श्व और महावीरकालीन हों। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय की अवधारणा मूलतः पार्श्व की परम्परा की रही है- जिसे लोक की व्याख्या के प्रसंग में महावीर की परम्परा में भी मान्य कर लिया गया था। लोक के स्वरूप की व्याख्या के सन्दर्भ में महावीर ने पार्श्व की अवधारणाओं को स्वीकार किया था, ऐसा उल्लेख भगवतीसूत्र में है। अतः इसी क्रम में उन्होंने पार्श्व की पंचास्तिकाय की अवधारणा को भी मान्यता दी होगी।

मैं पं. दलसुखभाई मालवणिया के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि पंचास्तिकाय की परम्परा का विकास बाद में हुआ। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि महावीर की परम्परा में पहले षट्जीवनिकाय की ही चर्चा थी। किन्तु पार्श्व की परम्परा के महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो जाने पर जो दार्शनिक अवधारणायें भी महावीर की परम्परा में मान्य हुईं उनमें पंचास्तिकाय की अवधारणा भी थी। अतः चाहे पंचास्तिकाय की अवधारणा महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना के बाद भगवती में मान्य हुई हो, किन्तु वह है पार्श्वकालीन।

यहाँ हमारा विवेच्य षट्जीवनिकाय की अवधारणा है, जो निश्चित रूप से महावीरकालीन तो है ही और उसके भी पूर्व की हो सकती है। क्योंकि इसकी चर्चा आचारांग के प्रथम अध्ययन में है। यह तो निश्चित सत्य है कि न केवल वनस्पति और अन्य जीव-जन्तु सजीव हैं अपितु पृथ्वी, अप, तेज और वायु भी सजीव हैं, यह अवधारणा स्पष्ट रूप से जैनों की रही है। सांख्य, न्याय-वैशेषिक आदि प्राचीन दर्शन-धाराओं में इन्हें पंचमहाभूतों के रूप में जड़ ही माना गया था - जबकि जैनों में इन्हें चेतन/सजीव मानने की परम्परा रही है। पंचमहाभूतों में मात्र आकाश ही ऐसा है जिसे जैन परम्परा भी अन्य दर्शन परम्पराओं के समान अजीव (जड़) मानती है। यही कारण था कि आकाश की गणना पंचास्तिकाय में तो की गई किन्तु षट्जीवनिकाय में नहीं। जबकि पृथ्वी, अप, तेज और वायु को षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत माना गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा ने पृथ्वी, जल आदि के आश्रित जीव रहते हैं- इतना ही न मानकर यह भी माना कि ये स्वयं जीव हैं। अतः जैन धर्म की साधना में और विशेष रूप से जैन मुनि आचार में इनकी हिंसा से बचने के निर्देश दिये गये हैं। जैन आचार में अहिंसा के परिपालन में जो सूक्ष्मता और अतिवादिता आयी है, उसका मूल कारण यह षट्जीवनिकाय की अवधारणा है। यह स्वाभाविक था कि जब पृथ्वी, पानी, वायु आदि को सजीव मान लिया गया तो अहिंसा के परिपालन के लिये इनकी हिंसा से बचना आवश्यक हो गया।

यह स्पष्ट है कि षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैन दर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। प्राचीन काल से लेकर यह आज तक यथावत रूप से मान्य है। तीसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी के मध्य इस अवधारणा में वर्गीकरण सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों को छोड़कर अन्य कोई मौलिक परिवर्तन हुआ हो ऐसा कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि आचारांग के बाद सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के जीव सम्बन्धी अवधारणा में कुछ विकास अवश्य हुआ है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार जीवों की उत्पत्ति किस-किस योनि में होती है, तथा जब वे एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं, तो अपने जन्म स्थान में किस प्रकार आहार ग्रहण करते हैं इसका विवरण सूत्रकृतांग आहार-परिज्ञा नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। यह भी ज्ञातव्य है कि उसमें जीवों के एक प्रकार को 'अनुस्यूत' कहा गया है। सम्भवतः इसी से आगे जैनों में अनन्तकाय और प्रत्येक वनस्पति की अवधारणाओं का विकास हुआ है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों में किस वर्ग में कौन से जीव हैं यह भी परवर्ती काल में ही निश्चित हुआ। फिर भी भगवती, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना के काल तक अर्थात् ई. की तीसरी

शताब्दी तक यह अवधारणा विकसित हो चुकी थी क्योंकि प्रज्ञापना में इन्द्रिय आहार और पर्याप्ति आदि के सन्दर्भ में विस्तृत विचार होने लगा था।

ईसवीं सन् की तीसरी शताब्दी के बाद षट्जीवनिकाय में त्रस और स्थावर के वर्गीकरण को लेकर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। आचारांग से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के काल तक पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर माना गया था जबकि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा जाता था। उत्तराध्ययन का अन्तिम अध्याय, कुन्दकुन्द का पंचास्तिकाय और उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर और अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय को त्रस मानता है। द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानने की परम्परा तो थी ही, अतः आगे चलकर सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मानने की परम्परा का विकास हुआ। यद्यपि कठिनाई यह थी कि अग्नि और वायु में स्पष्टतः गतिशीलता देखे जाने पर उन्हें स्थावर कैसे माना जाय ? प्राचीन आगमों में जहाँ पाँच एकेन्द्रिय जीवों के साथ-साथ त्रस का उल्लेख है वहाँ उसे त्रस और स्थावर का वर्गीकरण नहीं मानना चाहिये, अन्यथा एक ही आगम में अन्तर्विरोध मानना पड़ेगा, जो समुचित नहीं है। इस समस्या का मूल कारण यह था कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस नाम से अभिहित किया जाता था - अतः यह माना गया कि द्वीन्द्रिय से भिन्न सभी एकेन्द्रिय स्थावर हैं। इस चर्चा के आधार पर इतना तो मानना होगा कि लगभग छठीं शताब्दी के पश्चात् ही त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की धारणा में परिवर्तन हुआ तथा आगे चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पंच स्थावर की अवधारणा दृढ़ीभूत हो गयी। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जब वायु और अग्नि को त्रस माना जाता था, तब द्वीन्द्रियादि त्रसों के लिए उदार (उराल) त्रस शब्द का प्रयोग होता था। पहले गतिशीलता की अपेक्षा से त्रस और स्थावर का वर्गीकरण होता था और उसमें वायु और अग्नि में गतिशीलता मानकर उन्हें त्रस माना जाता था। वायु की गतिशीलता स्पष्ट थी अतः सर्वप्रथम उसे त्रस कहा गया। बाद में सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात हुआ कि अग्नि भी ईंधन के सहारे धीरे-धीरे गति करती हुई फैलती जाती है। अतः उसे भी त्रस कहा गया। जल की गति केवल भूमि के ढलान के कारण होती है स्वतः नहीं, अतः उसे पृथ्वी एवं वनस्पति के समान स्थावर ही माना गया। किन्तु वायु और अग्नि में स्वतः गति होने से उन्हें त्रस माना गया। पुनः जब आगे चलकर द्वीन्द्रिय आदि को ही त्रस और सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मान लिया गया तो - पूर्व आगमिक वचनों से संगति बैठाने का प्रश्न आया। अतः श्वेताम्बर परम्परा में यह माना गया कि लब्धि की अपेक्षा से तो वायु एवं अग्नि स्थावर हैं, किन्तु गति की अपेक्षा से उन्हें

त्रस कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में धवला टीका (१०वीं शती) में इसका समाधान यह कह कर किया गया कि वायु एवं अग्नि को स्थावर कहे जाने का आधार उनकी गतिशीलता न होकर स्थावर नामकर्म का उदय है। दिगम्बर परम्परा में ही कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने यह समन्वय निश्चय और व्यवहार के आधार पर किया है। वे लिखते हैं - पृथ्वी, अप और वनस्पति ये तीन स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर कहे जाते हैं; किन्तु वायु और अग्नि पंच स्थावर में वर्गीकृत किये जाते हुए भी चलन क्रिया दिखाई देने से व्यवहार से त्रस कहे जाते हैं। वस्तुतः यह सब प्राचीन और परवर्ती ग्रन्थों में जो मान्यताभेद आ गया था उससे संगति बैठाने का एक प्रयत्न था।

जहाँ तक जीवों के विविध वर्गीकरणों का प्रश्न है, निश्चय ही ये सब वर्गीकरण ई. सन् की दूसरी-तीसरी शती से लेकर दसवीं शती तक की कालावधि में स्थिर हुए हैं। इस काल में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि अवधारणाओं का विकास हुआ है। भगवती जैसे अंग आगमों में जहाँ इन विषयों की चर्चा है वहाँ प्रज्ञापना आदि अंगबाह्य ग्रन्थों का निर्देश हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये विचारणाएँ ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के बाद ही विकसित हुईं। ऐसा लगता है कि प्रथम अंग बाह्य आगमों में उनका संकलन किया गया है और फिर माथुरी एवं वलभी वाचनाओं के समय उन्हें अंग आगमों में समाविष्ट कर इनकी विस्तृत विवेचना को देखने के लिए तद्गत ग्रन्थों का निर्देश कर दिया गया।

इस प्रकार जैन साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर माना जा सकता है कि जैन तत्त्वमीमांसा का कालक्रम में विकास हुआ है। यद्यपि परम्परागत मान्यता जैन दर्शन को सर्वज्ञ प्रणीत मानने के कारण इस ऐतिहासिक विकासक्रम को अस्वीकार करती है।

